

स्रोत से जुड़ाव : आकर ग्रंथों की भूमिका

एक विचित्र विडंबना है कि यूरोप में जब सोलहवीं सदी में पुनर्जागरण हुआ तो उसके साथ-साथ प्राचीन ग्रीक और लातिनी साहित्य के पुनः अनुशीलन और उससे शाश्वत मूल्यों के पुनरुद्धार का प्रयत्न शुरू हुआ। अलगाव की संकीर्णताओं से मुक्ति के लिए ही जो स्वच्छंदतावादी आंदोलन साहित्य में आया उसका एक महत्वपूर्ण उपादान है प्राचीन आकर ग्रंथों, उनके मिथकों, उस समय की कला का पुनः निर्वचन। इसे भारत के तथाकथित पुनर्जागरण काल बीसवीं सदी में भी वेदों की पुनर्व्याख्या और विशेष रूप से उपनिषदों के पुनः पाठन का अवलंब लिया गया। देश के स्वतंत्र होने पर भी आकर ग्रंथों के महत्व की बात उठी। डॉ. राजेंद्र प्रसाद, पं. जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव जैसे लोगों ने संस्कृत, पालि और प्राकृत में निहित ज्ञानराशि और मूल्य-संपदा के पुनः अन्वेषण पर बल दिया।

आज स्थिति यह है कि विकास और प्रगति के नाम पर संस्कृति या किसी भी आकर भाषा की बात करनेवाले को प्रतिक्रियावादी माना जाता है। 'सेकुलर' देश के उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के बावजूद कि संस्कृत देश के लिए 'पोषक तत्त्व' के रूप में आवश्यक है, देश को जोड़ने के लिए आवश्यक है, संस्कृत को शिक्षा में फिर से स्थान दिलाने का विरोध हो रहा है। विदेशी शासक के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक था, देशी शिक्षक के लिए भी यह ज्ञान अनुपयोगी है—यह बात कुछ क्षेत्रों की तरफ से बहुत ही तर्कहीन ढंग से उठाई जा रही है। तरह-तरह के भ्रम फैलाए जा रहे हैं। विदेशी शासकों ने जो भ्रम फैलाए थे, उन्हें फिर से और बढ़ा-चढ़ाकर सामने रखा जा रहा है। हम यहाँ यह उल्लेख करना चाहेंगे कि उन्नीसवीं सदी के महान् विचारक कार्ल मार्क्स ने अपने एक पत्र में स्पष्ट कहा था कि अंग्रेजों के साम्राज्यवाद का मैं विरोध करता हूँ, पर अंग्रेज एक अच्छी बात कर रहे हैं कि एशिया की प्राचीन संस्कृति को वे समूल ध्वस्त कर रहे हैं। मार्क्स चिरजीवी हों, उनके पोते-परपोते उनकी आकांक्षा की पूर्ति में जी-जान से लगे हुए हैं। वे कभी संस्कृत को आधुनिक भाषाओं के विरोध में खड़ा करते हैं, कभी समतावादी सिद्धांतों के विरोध में और कभी सेकुलरवाद के विरोध में खड़ा करते हैं। जबकि स्थिति ठीक इसके उलटी है। संस्कृत आधुनिक भाषाओं के संपोषण की भूमिका निभाती है, जब-जब शब्द की गहराई में कोई रचनाकार जाना चाहता है तो संस्कृत की ओर सतृष्ण दृष्टि से निहारता है और वहीं से उसे उस शब्द की नई-नई संभावनाओं की उद्भावना मिलती है। जब वैज्ञानिक को किसी वस्तु-निरीक्षण के लिए पद-रचना करनी होती है तो वह संस्कृत की ओर दृष्टि डालता है। यही नहीं, संस्कृत भाषा स्वयं निरंतर समीपवर्ती आधुनिक भाषाओं से शब्द लेती रही है, लय लेती रही है, आज भी ले रही है। संस्कृत आज भी न केवल संस्कार में बल्कि जीवन-व्यवहार में जहाँ कहीं मूल्य की चर्चा करनी होती है, वहाँ संस्कृत के वाक्य लिये जाते हैं। संस्कृत-विरोधी लोग भी अपने बच्चों के नामकरण के लिए संस्कृत का सहारा लेते हैं।

संस्कृत आज भी उत्सव की भाषा है। साथ-ही-साथ संस्कृत में हमेशा सबके सुख की बात की गई है, किसी वर्ग विशेष के सुख की नहीं। सुख का आधार सबके बीच सामंजस्य माना गया है। संस्कृत भाषा में केवल आध्यात्मिक उन्नति ही नहीं है। कोरी आध्यात्मिक उन्नति की बात तो प्रायः उन्होंने की है जिन्हें संस्कृत का पूरा ज्ञान नहीं था। उसमें भौतिक जीवन की संपन्नता के साथ उस संपन्नता में सबकी हिस्सेदारी की बात बार-बार दोहराई गई है। संस्कृत के नीतिशास्त्र में, अर्थशास्त्र में सर्वभूत हित की बात है। कहीं किसी देश विशेष, वर्ग विशेष के हित की बात नहीं है और सिर्फ मनुष्य के हित की नहीं, सबके हित की बात कही गई है। मनुष्य के ऊपर यह जिम्मेदारी डाली गई है कि वह सबका हिस्सा सबको दे; क्योंकि उसकी चेतना का विकास होता रहता है, उसका विवेक परिष्कृत होता रहता है।

यह अवश्य है कि संस्कृत, पालि और प्राकृत साहित्य में बिना अलग से 'दलित', 'शोषित' शब्द का प्रयोग किए ऐसे पुरुषार्थ की प्रशंसा की है जो बिना जाति, कुल की चिंता किए व्यक्ति को अभ्युदय कराता है और ऐसे व्यक्ति को दूसरे का कष्ट समझने के लिए संबल देता है। संस्कृत साहित्य में यदि अरण्य में रहनेवाले की तपस्या राजा की सैन्य शक्ति और राजसी टाट-बाट पर भारी पड़ती है तो पालि और प्राकृत साहित्य में किसान के स्वेद बिंदु मोती की लड़ियों से अधिक

मूल्यवान् बनते हैं। और सब परिग्रह छोड़कर रहनेवाले तथागत की अकिंचनता धनी गोप की पशु-संपदा, धान्य-संपदा पर भारी पड़ती है। जहाँ तक विकास की बात है, उस विकास का मूल मंत्र ही यही है कि बिना दूसरों को क्लेश दिए जो उन्नति होती है वही असली उन्नति है। यह दूसरे की टाँग खींचकर या आगेवाले को धकेलकर बढ़नेवाली विकास-यात्रा के अनुकूल नहीं है; पर वही वास्तविक दूर तक ले जानेवाली विकास-यात्रा होती है। इस बात का आभास लोगों को होने लगा है कि आज जिस भूमंडलीय विकास की बात की जा रही है वह अपसंचय और अंत में अपशिष्ट की ओर ले जाकर मनुष्य को तबाह करनेवाला है। लोग अब संतुलित विकास की बात करने लगे हैं, क्योंकि अंधी दौड़ की होड़ लगी हुई है। इसलिए वही देश विकसित है जो दूसरों की नकेल हाथ में लिये चलता है। यह नहीं सोचता कि एक दिन हाथ में नकेल लिये रह जाएगा, यात्रा आगे बढ़ जाएगी, नकेल के साथ खुद खिसकता जाएगा, घिसटता जाएगा और नकेल कहीं छूट गई तो गिरकर ढेर हो जाएगा।

अभी तक तो हमने नकारात्मक पक्षों का समाधान देने की चेष्टा की है, पर भारतीय आकर साहित्य—जिसमें संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन तमिल साहित्य, मध्य युग का भारतीय भक्ति साहित्य सभी आते हैं—के कुछ विशेष सकारात्मक पक्षों का उल्लेख करना चाहूँगा। प्राचीन वैदिक साहित्य में सबसे अधिक बल सत्य की प्रतिष्ठा पर है। यह सत्य केवल वचन का सत्य नहीं, निष्ठा के रूप में आचरण का भी सत्य है और एकाग्रता के रूप में मन का भी सत्य है। यह सत्य आतंकित करनेवाला सत्य नहीं है, यह करुणा से निरंतर पूरित होता रहता है। इसलिए कि यह सत्य की अभिव्यक्ति के विविध रूपों को असत्य नहीं मानता और सत्य के नाम पर मानव भाव की बलि नहीं देता। कोई अच्छा है, कोई बुरा है; इतने से ही कोई प्रशंसा या निंदा का पात्र नहीं होगा। वह दूसरे के लिए कितना सोचता है, करता है—उसी से उसकी अच्छाई-बुराई मापी जाएगी। और इसी मानुष भाव के बारे में कहा गया है कि मानुष भाव से बढ़कर कोई नहीं है, उससे परे कोई सच नहीं है।

यह मानुष भाव है क्या? क्या केवल अनुकंपा या दया है? अथवा दैन्य, आधि, व्याधि, द्वेष, घृणा के विष को पीनेवाला शिव भाव है? स्पष्ट है कि मानुष भाव मनुष्य को केंद्र में रखकर नहीं है, वह मनुष्यता को, मानव-सुलभ करुणा को, ममता को केंद्र में रखनेवाला है। इसी कारण जीवन का रथ सत्य और ऋत के जोड़े से चलता है जरूर, पर उसको नियंत्रित करनेवाली रहती है मानवीय करुणा। इसी भाव को तरह-तरह की कहानियों से समझाया गया है। 'भागवत' का आरंभ ही इस प्रश्न से होता है कि परीक्षित् को उपवास करके अपना शरीर छोड़ने का अधिकार नहीं था, क्योंकि वे भगवान् में जीनेवाले थे और भगवान् में जीनेवाला लोक के सभी प्रकार के अभ्युदय के लिए जीता है। उनका शरीर दूसरे के लिए है। उस शरीर को तजने का निश्चय उन्होंने क्यों लिया? इसी बात को मध्य युग के भक्त कवियों ने अपनी वाणी में लिया और 'पराई पीर' का होना ही भक्ति की पहचान है, यह रेखांकित किया।

दूसरी बड़ी देन इस आकर साहित्य की यह है कि इसका फलक बड़ा विस्तृत है। यह जाति-पाँति, रंग, रक्तभेद, देश आदि की संकीर्णताओं से बहुत ऊपर है। इसमें कोई भी छोटे-से-छोटा प्राणी बड़े-से-बड़े माने जानेवाले व्यक्ति को चुनौती दे सकता है; दुर्योधन के निन्यानबे भाइयों में एक नगण्य-सा भाई विकर्ण पूरी सभा को चुनौती देता है, एक नगण्य-सा नेवला युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ की सार्थकता को चुनौती देता है; एक मांस-विक्रेता व्याध बिना कुछ कहे, चुपचाप अपना काम सलटाते हुए तपस्या के छूँछे अभिमान को चुनौती देता है।

प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में स्पष्ट रूप से बड़प्पन या बड़े घर का लक्षण शानदार होना नहीं है। सबसे बड़ा लक्षण है क्लेश में पड़े व्यक्ति के दुःख-निवारण के लिए जो उद्यत रहे वही बड़ा होता है, उसी का घर बड़ा होता है—चाहे वह छप्पर की कुटी में रहता हो। संस्कृत साहित्य की शकुंतला को नए पल्लव सुंदर लगते हैं; पर उन्हें कानों में खोंसने के लिए नहीं तोड़ती, क्योंकि उनसे वृक्ष की शोभा कम हो जाएगी। और वृक्ष की शोभा भी अपनी ही शोभा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी दृष्टि के अभाव ने ही पर्यावरण के नाश की भीषण समस्या खड़ी की है।

अंतिम बात, जो रेखांकित करने योग्य है वह यह कि संस्कृत साहित्य भरे-पूरे जीवन की बात करता है, जीने को और जीने के उत्साह को धर्म मानता है। 'महाभारत' में विशेष रूप से यह बात आई है कि आदमी जिएगा, तभी धर्म-परायण होगा—जीवन् धर्ममवाप्नयात्—जीवन की रक्षा भी आवश्यक है, शरीर ही धर्म का साधन है, शरीर उपेक्षणीय नहीं है। जीवन में राग-विराग दोनों की भूमिका है, योग-भोग दोनों की भूमिका है; पर दोनों को संयत रखनेवाला सिद्धांत है—

दूसरों को इससे क्लेश तो नहीं हो रहा है। यह तो एक भ्रामक धारणा फैलाई गई है कि यह परलोक की भाषा है, सही बात यह है कि यह इस लोक और इस समय की सबसे संपूर्ण और समृद्ध भाषा है। इसकी आज की बोली जानेवाली भाषाओं से स्पर्धा नहीं है, यह उनका हक छीननेवाली नहीं है, उनकी सीमाओं का विस्तार करनेवाली है, उनके भावों को विस्तृत फलक देनेवाली है, उनकी मूल्यवत्ता के लिए कसौटी का काम करनेवाली है।

एक बात और। जिस विज्ञान मनोभाव पर आज इतना बल दिया जा रहा है उसमें सबसे अधिक आवश्यक है असंदिग्धता, व्यापकता और साथ-ही-साथ संक्षिप्तता। हजार परीक्षणों के आधार पर एक छोटा सा नियम बनता है और सब पर लागू होता है; पर स्वयं संक्षिप्त होता है। उसमें स्पष्टता होती है। पाणिनि का 'अष्टाध्यायी' इसी मनोभाव का प्रतिदर्श है, जो केवल भाषा का ही व्याकरण नहीं, संपूर्ण जीवन की समझ का वर्गीकरण है। उसकी इन वैज्ञानिक संभावनाओं की समझ का अभी पूरा उन्मीलन हुआ ही नहीं है। इसीलिए पश्चिम की नई समझवाले लोग नए आदर के भाव से संस्कृत की ओर प्रवृत्त हुए हैं और इसी माने में वह विश्वभाषा है। उसके सहयोग से न सिर्फ भाषा बल्कि वैचारिक क्षितिज का विकास किया जा सकता है। हाँ, यदि कोई केवल विध्वंस पर ही तुला हुआ हो तो उसका कोई जवाब नहीं है।

संस्कृत या दूसरी क्लासिक भाषाओं, जिन्होंने एक-दूसरे से मुक्तहस्त दिया-लिया है, पीछे ले जानेवाली भाषाएँ नहीं, ये मनुष्य को उसके पूरे संदर्भ से जोड़कर अधिक समर्थ रूप में आगे बढ़ने की प्रेरणा देनेवाली भाषाएँ हैं। संस्कृत उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि वह सबसे व्यापक, सबसे जीवंत और सबसे अधिक आगे आनेवाले युग की कौम के अनुरूप है।

श्रद्धांजलि

एक महीने से कुछ अधिक हुए, हिंदी के यशस्वी कवि, वक्ता, शिक्षाविद् और उज्जैनी के गले के हार श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' लंबी अस्वस्थता के बाद हमारे बीच से चले गए। उनका काव्य-पाठ इतना मोहक, नाटकीय और प्रभावकारी होता था कि लोग उन्हें बार-बार सुनना चाहते थे। वे कालिदास और रवीन्द्रनाथ को दोहराते कभी थकते नहीं थे। वे पूरी तरह उनमें रमे थे। कवि प्रायः शासन-संचालन में कठोर नहीं हो पाता; पर वे बिना कठोर हुए बड़े कला-कौशल के साथ विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति बने रहे और पद से हटने के बाद भी उसकी रीति-नीति के नेपथ्य-संचालक बने रहे। वे उज्जैनी के पर्याय बन गए थे; पर वे जहाँ कहीं गए वहाँ के वातावरण में ऐसे रमे कि लोग उन्हें केवल आत्मीय रूप में देखते रहे।

'रामचरितमानस' का वे नित्य पारायण करते थे और तुलसीदासजी के काव्य के बड़े समर्थ आस्वादक थे। दूसरी ओर वे प्रगतिवादी कविता के पथ-प्रदर्शकों में थे। हम लोग उनकी कविता 'पथ भूल न जाना पथिक कहीं' बड़े शान से छात्रावस्था में गाते थे। उनमें समन्वय की असाधारण क्षमता थी, इसीलिए उन्होंने मैत्री का हाथ सबके साथ आगे बढ़ाया। उनकी वाणी में बड़ा ओज था, बड़ा प्रवाह था। वे मंच पर एक अच्छे जनाराधक थे। उनके जाने से व्यक्तिगत क्षति तो गहरी हुई ही है, हिंदी की और उज्जैनी की संस्कृति की अपूरणीय क्षति हुई है। उन्हें हमारी श्रद्धांजलि!



इसी अवधि में रेलवे की सेवा से निवृत्त हिंदी के लिए संघर्षरत श्री राम विनायक सिंह का निधन हुआ। वे बहुत दिनों तक गोरखपुर के पूर्वोत्तर रेलवे में कार्यरत रहे और हिंदी के काव्य-समारोह, विचार-गोष्ठी जैसे आयोजन एक पवित्र कर्तव्य के रूप में बड़े मनोयोग से करते रहे। उनके भाव से आकृष्ट होकर हिंदी के प्रमुख रचनाकार सम्मिलित होते थे।

वे संविधान एवं अधिनियमों से प्राप्त हिंदी के अधिकार के प्रति सजग रहते थे और जिन अधिकारियों से उनके बड़े अच्छे संबंध थे उनके असंतोष की चिंता नहीं करते हुए उन्होंने न्यायालय तक इन अधिकारों के लिए अकेले गुहार लगाई। उन्होंने बड़े निस्पृह भाव से संघर्ष किया।

उन्हें मैं विनम्र श्रद्धांजलि देता हूँ!

